स्याद्वाद पर कुछ आक्षेप और उनका परिहार

श्री मोहनलाल मेहता, एम. ए., शास्त्राचार्य

स्याद्वाद के वास्तविक अर्थ की उपेक्षा कर बड़े बड़े दार्शनिक भी उस पर मिथ्या आरोप लगाने से नहीं चूके। उन्होंने अज्ञानवश ऐसा किया या जानकर, यह कहना कठिन है। कैसे भी किया हो, किन्तु किया अवश्य। बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्ति ने स्याद्वाद को पागलों का प्रलाप कहा और जैनों को निर्लज्ज बताया[1]। शान्तरक्षित ने भी यही बात कही। स्याद्वाद जो कि सत् और असत्, एक और अनेक, भेद और अभेद, सामान्य और विशेष जैसे परस्पर विरोधी तत्त्वों को मिलाता है, पागल व्यक्ति की बौखलाहट है[2]। इसी प्रकार शंकराचार्य ने भी स्याद्वाद पर पागलपन का आरोप लगाया। एक ही श्वास उष्ण और शीत नहीं हो सकता। भेद और अभेद, नित्यता और अनित्यता, यथार्थता और अयथार्थता, सत् और असत् अन्धकार और प्रकाश की तरह एक ही काल में एक ही वस्तु में नहीं रह सकते[3]। इस प्रकार के अनेक आरोप स्याद्वाद पर लगाए गए हैं। अब तक जितने आरोप लगाये गए हैं अथवा लगाए जा सकते हैं, इस लेख में उन सब का एक एक करके निराकरण करने का प्रयत्न किया जाएगा।

१. विधि और निषेध परस्पर विरोधी धर्म हैं। जिस प्रकार एक ही वस्तु नील और अनील दोनों नहीं हो सकती क्योंकि नीलत्व और अनीलत्व विरोधी वर्ण हैं, उसी प्रकार विधि और निषेध परस्पर विरोधी होने के कारण एक ही वस्तु में नहीं रह सकते। इसलिए यह कहना विरोधात्मक है कि एक ही वस्तु भिन्न भी है और अभिन्न भी है, सत् भी है और असत् भी है, वाच्य भी है और अवाच्य भी है। जो भिन्न है वह अभिन्न कैसे हो सकती है और जो अभिन्न है वह भिन्न कैसे हो सकती है? जो एक है वह एक ही है, जो अनेक है वह अनेक ही है। इसी प्रकार अन्य धर्म भी पारस्परिक विरोध सहन नहीं कर सकते। स्याद्वाद इस प्रकार के विरोधी धर्म का एकत्र समर्थन करता है, इसलिए वह सदोष है।

यह दोषारोपण मिथ्या है। प्रत्येक पदार्थ अनुभव के आधार पर इसी प्रकार का सिद्ध होता है। एक दृष्टि से वह नित्य प्रतीत होता है और दूसरी दृष्टि से अनित्य। एक दृष्टि से एक मालूम होता है और दूसरी दृष्टि से अनेक। स्याद्वाद यह नहीं कहता कि जो नित्यता है वही अनित्यता है, या जो एकता है वही अनेकता है। नित्यता और अनित्यता, एकता और अनेकता आदि धर्म परस्परविरोधी हैं, यह सत्य है। किन्तु उनका विरोध अपनी दृष्टि से है, वस्तु की दृष्टि से नहीं। वस्तु तो दोनों को ही आश्रय देती है। दोनों की सत्ता से ही वस्तु का स्वरूप पूर्ण होता है। एक के भी अभाव में पदार्थ अधूरा है। जब एक वस्तु द्रव्य दृष्टि से नित्य और पर्याय दृष्टि से अनित्य मालूम होती है तो उसमें विरोध का कोई प्रश्न ही नहीं है। विरोध वहां होता है जहां विरोध की प्रतीति हो। विरोध की प्रतीति के अभाव में भी विरोध की कल्पना करना सत्य को चुनौती देना है। जैन ही नहीं, बौद्ध भी चित्रज्ञान में विरोध नहीं मानते। जब एक ही ज्ञान में चित्रवर्ण का प्रतिभास हो सकता है और उस ज्ञान में विरोध नहीं होता तो एक ही पदार्थ में दो विरोधी धर्मों की सत्ता

---

१. प्रमाणवार्तिक १, १८२-१८५.

२. तत्त्वसंग्रह ३११-३२७.

३. शारीरकभाष्य २.२.३३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानने में क्या हानि है ? नैयायिक चित्रवर्ण की सत्ता मानते ही हैं। एक ही वस्त्र में संकोच और विकास हो सकता है, एक ही वस्त्र रक्त और अरक्त हो सकता है, एक ही वस्त्र पिहित और अपिहित हो सकता है। ऐसी दशा में एक ही पदार्थ में भेद और अभेद, नित्यता और अनित्यता और एकता और अनेकता की सत्ता क्यों विरोधी मानी जाती है, यह समझ में नहीं आता। इसलिए स्याद्वाद पर यह आरोप लगाना कि वह परस्पर विरोधी धर्मों को एकत्र आश्रय देता है, मिथ्या है। स्याद्वाद प्रतीति को यथार्थ मान कर ही आगे बढ़ता है। प्रतीति में जैसा प्रतिभास होता है और जिसका दूसरी प्रतीति से खण्डन भी नहीं होता, वही निर्णय यथार्थ है—अव्यभिचारी है—अविरोधी है।

२. यदि वस्तु भेद और अभेद उभयात्मक है तो भेद का आश्रय भिन्न होगा और अभेद का आश्रय उससे भिन्न। ऐसी दशा में वस्तु की एकरूपता समाप्त हो जाएगी, एक ही वस्तु द्विरूप हो जाएगी।

यह दोष भी निराधार है। भेद और अभेद का भिन्न भिन्न आश्रय मानने की कोई आवश्यकता नहीं। जो वस्तु भेदात्मक है वही वस्तु अभेदात्मक है। उसका जो परिवर्तन धर्म है, वह भेद की प्रतीति का कारण है। उसका जो ध्रौव्य धर्म है, वह अभेद की प्रतीति का कारण है। ये दोनों धर्म अखण्ड वस्तु के धर्म हैं। ऐसा कहना ठीक नहीं कि वस्तु का एक अंश भेद या परिवर्तनधर्म वाला है और दूसरा अंश अभेद या ध्रौव्यधर्मयुक्त है। वस्तु के टुकड़े टुकड़े करके अनेक धर्मों की सत्ता स्वीकृत करना स्याद्वादी को इष्ट नहीं। जब हम वस्त्र को संकोच और विकासशील कहते हैं तब हमारा तात्पर्य एक ही वस्त्र से होता है। वही वस्त्र संकोचशाली होता है और वही विकासशाली। यह नहीं कि उसका एक हिस्सा संकोचधर्म वाला है और दूसरा हिस्सा विकासधर्म वाला है। वस्तु के दो अलग अलग विभाग करके भेद और अभेदरूप दो भिन्न भिन्न धर्मों के लिये दो भिन्न भिन्न आश्रयों की कल्पना करना स्याद्वाद की मर्यादा के बाहर है। वह तो एकरूप वस्तु को ही अनेकधर्मयुक्त मानता है।

३. वह धर्म जिसमें भेद की कल्पना की जाती है और वह धर्म जिसमें अभेद स्वीकृत किया जाता है—उन दोनों में क्या सम्बन्ध होगा ? दोनों परस्पर भिन्न हैं या अभिन्न ? भिन्न मानने पर पुनः यह प्रश्न उठता है कि वह भेद जिसमें रहता है उससे वह भिन्न है या अभिन्न ? इस प्रकार अनवस्था का सामना करना पड़ेगा। अभिन्न मानने पर भी यही दोष आता है। यह अभेद जिसमें रहेगा वह उससे भिन्न या है अभिन्न ? दोनों अवस्थाओं में पुनः सम्बन्ध का प्रश्न खड़ा होता है। इस प्रकार किसी भी अवस्था में अनवस्था से मुक्ति नहीं मिल सकती।

अनवस्था के नाम पर यह दोष भी स्याद्वाद के सिर पर नहीं मढ़ा जा सकता। जैन दर्शन यह नहीं मानता कि भेद अलग है और वह भेद जिसमें रहता है वह धर्म अलग है। इसी प्रकार जैन दर्शन यह भी नहीं मानता कि अभेद भिन्न है और अभेद जिसमें रहता है वह धर्म उससे भिन्न है। वस्तु के परिवर्तनशील स्वभाव को ही भेद कहते हैं और उसके अपरिवर्तनशील स्वभाव का नाम ही अभेद है। भेद नामक कोई पदार्थ आकर उससे सम्बन्धित होता हो और उसके सम्बन्ध से वस्तु में भेद की उत्पत्ति होती हो, ऐसी बात नहीं है। इसी प्रकार अभेद भी कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है जो किसी सम्बन्ध से वस्तु में रहता हो। वस्तु स्वयं ही भेदाभेदात्मक है। ऐसी दशा में इस प्रकार के सम्बन्ध का प्रश्न ही नहीं उठता। जब सम्बन्ध का प्रश्न ही व्यर्थ है तब अनवस्था दोष की व्यर्थता स्वतःसिद्ध है, यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं।

४. जहां भेद है वहीं अभेद है और जहां अभेद है वहीं भेद है। भेद और अभेद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का भिन्न भिन्न आश्रय न होने से दोनों एकरूप हो जाएंगे। भेद और अभेद की एकरूपता का अर्थ होगा संकर दोष।

स्याद्वाद को संकर दोष का सामना तब करना पड़ता जब भेद अभेद हो जाता या अभेद भेद हो जाता। आश्रय एक होने का अर्थ यह नहीं होता कि आश्रित भी एक हो जाएं। एक ही आश्रय में अनेक आश्रित रह सकते हैं। एक ही ज्ञान में चित्रवर्ण का प्रतिभास होता है (बौद्ध), फिर भी सब वर्ण एक नहीं हो जाते। एक ही वस्तु में सामान्य और विशेष दोनों रहते हैं (नैयायिक-वैशेषिक), फिर भी सामान्य और विशेष एक नहीं हो जाते। भेद और अभेद का आश्रय एक ही पदार्थ है किन्तु वे दोनों एक नहीं हैं। यदि वे एक होते तो एक ही की प्रतीति होती, दोनों की नहीं। जब दोनों की भिन्न भिन्न रूप में प्रतीति होती है तब उन्हें एकरूप कैसे कहा जा सकता है?

५. जहां भेद है वहां अभेद भी है और जहां अभेद है वहां भेद भी है। दूसरे शब्दों में जो भिन्न है वह अभिन्न भी है और जो अभिन्न है वह भिन्न भी है। भेद और अभेद दोनों परस्पर बदले जा सकते हैं। इसका परिणाम यह होगा कि स्याद्वाद को व्यतिकर दोष का सामना करना पड़ेगा।

जिस प्रकार संकर दोष स्याद्वाद पर नहीं लगाया जा सकता उसी प्रकार व्यतिकर दोष भी स्याद्वाद का कुछ नहीं बिगाड़ सकता। दोनों धर्म स्वतन्त्ररूप से वस्तु में रहते हैं और उनकी प्रतीति उभयरूप से होती है। ऐसी दशा में व्यतिकर दोष की कोई सम्भावना नहीं रहती। जब भेद की प्रतीति स्वतन्त्र है और अभेद की स्वतन्त्र, तब भेद और अभेद के परिवर्तन की आवश्यकता ही क्या है? ऐसी स्थिति में व्यतिकर दोष का कोई अर्थ नहीं। भेद का भेद रूप से ग्रहण करना और अभेद का अभेद रूप से ग्रहण—यही स्याद्वाद का अर्थ है। वहां व्यतिकर जैसी कोई चीज ही नहीं है।

६. तत्त्व के भेदाभेदात्मक होने से किसी निश्चित धर्म का निर्णय नही हो सकेगा। जहां किसी निश्चित धर्म का निर्णय नहीं होगा वहां संशय उत्पन्न होगा और जहां संशय होगा वहां तत्त्व का ज्ञान ही नहीं हो सकता।

यह दोष भी व्यर्थ है। भेदाभेदात्मक तत्त्व का भेदाभेदात्मक ज्ञान होना संशय नहीं है। संशय तो वहां होता है जहां यह निर्णय न हो कि तत्त्व भेदात्मक है या अभेदात्मक है या भेद और अभेद उभयात्मक है? जब यह निर्णय हो रहा है कि तत्त्व भेद और अभेद उभयात्मक है, तब यह कैसे कहा जा सकता है कि किसी निश्चित धर्म का निर्णय नहीं होगा। जहां निश्चित धर्म का निर्णय है वहां संशय पैदा नहीं हो सकता। जहां संशय नहीं, वहां तत्त्वज्ञान होने में कोई बाधा ही नहीं। इसलिए संशयाश्रित जितने भी दोष हैं, स्याद्वाद के लिए सब निरर्थक हैं।

७. स्याद्वाद एकान्तवाद के बिना नहीं रह सकता। स्याद्वाद कहता है कि प्रत्येक वस्तु या धर्म सापेक्ष है। सापेक्ष धर्मों के मूल में जबतक कोई ऐसा तत्त्व न हो जो सब धर्मों को एकसूत्र में बांध सके तब तक वे धर्म टिक ही नहीं सकते। उन को एकता के सूत्र में बांधने वाला कोई न कोई तत्त्व अवश्य होना चाहिए जो स्वयं निरपेक्ष हो। ऐसे निरपेक्ष तत्त्व की सत्ता मानने पर स्याद्वाद का यह सिद्धान्त कि प्रत्येक वस्तु सापेक्ष है, खण्डित हो जाता है।

स्याद्वाद जो वस्तु जैसी है उसे वैसी ही देखने के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। सब

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पदार्थों या धर्मों में एकता है, इसे स्याद्वाद मानता है। भिन्न भिन्न वस्तुओं में अभेद मानना भी स्याद्वाद को अभीष्ट है। स्याद्वाद यह नहीं कहता कि अनेक धर्मों में अेकता नहीं है। विभिन्न वस्तुओं को एक सूत्र में बांधने वाला अभेदात्मक तत्त्व अवश्य है, किन्तु ऐसे तत्त्व को मानने का यह अर्थ नहीं कि स्याद्वाद एकान्तवाद हो गया। स्याद्वाद एकान्तवाद तब होता जब वह भेद का खण्डन करता—अनेकता का तिरस्कार करता। अनेकता में एकता मानना स्याद्वाद को प्रिय है, किन्तु अनेकता का निषेध करके एकता को स्वीकृत करना उसकी मर्यादा के बाहर है। 'सर्वमेकं सदविशेषात्' अर्थात् सब एक है क्योंकि सब सत् है—इस सिद्धान्त को मानने के लिए स्याद्वाद तैयार है किन्तु अनेकता का निषेध करके नहीं, अपितु उसे स्वीकृत करके। एकान्तवाद अनेकता का निषेध करता है—अनेकता को अयथार्थ मानता है—भेद को मिथ्या कहता है जब कि अनेकान्तवाद एकता के साथ साथ अनेकता को भी यथार्थ मानता है। एकतामूलक यह तत्त्व एकान्तरूप से निरपेक्ष है, यह नहीं कहा जा सकता। एकता अनेकता के बिना नहीं रह सकती और अनेकता एकता के अभाव में नहीं रह सकती। एकता और अनेकता परस्पर इसी प्रकार मिली हुई हैं कि एक को दूसरी से अलग नहीं किया जा सकता। ऐसी दशा में एकता को सर्वथा निरपेक्ष कहना युक्तियुक्त नहीं। एकता अनेकताश्रित है और अनेकता एकताश्रित है। दोनों एक दूसरे की अपेक्षा रखती हैं। एकता के बिना अनेकता का काम नहीं चल सकता और अनेकता के बिना एकता कुछ नहीं कर सकती। तत्त्व एकता और अनेकता दोनों का मिलाजुला रूप है। उसे न तो एकान्तरूप से एक कह सकते हैं और न एकान्ततः अनेक। इसलिए स्याद्वाद को एकता के वास्तविक मानने पर भी एकान्तवाद या निरपेक्षवाद का भय नहीं।

८. यदि प्रत्येक वस्तु कथञ्चित् यथार्थ है और कथञ्चित् अयथार्थ, तो स्याद्वाद स्वयं भी कथञ्चित् सत्य होगा और कथञ्चित् मिथ्या। ऐसी स्थिति में स्याद्वाद से ही तत्त्व का यथार्थ ज्ञान हो सकता है, यह कैसे कहा जा सकता है?

स्याद्वाद तत्त्व का विश्लेषण करने की एक दृष्टि है। अनेकान्तात्मक तत्त्व को अनेकान्तात्मक दृष्टि से देखने का नाम ही स्याद्वाद है। जो वस्तु जिस रूप से यथार्थ है उसे उसी रूप में यथार्थ मानना और तदितर रूप में अयथार्थ मानना स्याद्वाद है। स्याद्वाद स्वयं भी यदि किसी रूप में अयथार्थ या मिथ्या है तो वैसा मानने में कोई हर्ज नहीं। यदि हम एकान्तवादी दृष्टिकोण लें और उससे स्याद्वाद की ओर देखें तो वह भी मिथ्या प्रतीत होगा। अनेकान्त दृष्टि से देखने पर स्याद्वाद सत्य प्रतीत होगा। दोनो दृष्टियों को सामने रखते हुए हम यह कह सकते हैं कि स्याद्वाद कथञ्चित् मिथ्या है अर्थात् एकान्तदृष्टि की अपेक्षा से मिथ्या है और कथञ्चित् सत्य है अर्थात् अनेकान्तदृष्टि की अपेक्षा से सत्य है। जिसका जिस दृष्टि से जैसा प्रतिपादन हो सकता है उसका उस दृष्टि से वैसा प्रतिपादन करने के लिये स्याद्वाद तैयार है। इसमें उसका कुछ नहीं बिगड़ता। जब हम यह कहते हैं कि प्रत्येक पदार्थ स्वरूप से सत् है और पररूप से असत् है तो हम यह भी कह सकते हैं कि स्याद्वाद स्वरूप से अर्थात् अनेकान्तरूप से सत् है–यथार्थ है और पररूप से अर्थात् एकान्तरूप से असत् है–अयथार्थ है। हमारा यह कथन भी स्याद्वाद ही है। दूसरे शब्दों में स्याद्वाद को कथञ्चित् यथार्थ और कथञ्चित् अयथार्थ कहना भी स्याद्वाद ही है।

९. सप्तभङ्गी के अन्त के तीन भङ्ग व्यर्थ हैं क्योंकि वे केवल दो भङ्गों के योग से बनते हैं। इस प्रकार योग से ही संख्या बढ़ाना हो तो सात क्या अनन्त भङ्ग बन सकते हैं।

मूलतः एक धर्म को लेकर दो पक्ष बनते हैं—विधि और निषेध। प्रत्येक धर्म का या तो विधान होगा या प्रतिषेध। ये दोनों भङ्ग मुख्य हैं। बाकी के भङ्ग विवक्षाभेद से बनते हैं। तीसरा और चौथा दोनों भङ्ग भी स्वतंत्र नहीं हैं। विधि और निषेध की क्रम से विवक्षा होने पर तीसरा भङ्ग बनता है और युगपद् विवक्षा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होने पर चौथा भङ्ग बनता है। इसी प्रकार विधि की और युगपद् विधि और निषेध की विवक्षा होने पर पांचवां भङ्ग बनता है। आगे के भङ्गों का भी यही क्रम है। यह ठीक है कि जैन आचार्यों ने सात भङ्गों पर ही जोर दिया और सात भङ्ग ही क्यों होते हैं, कम या अधिक क्यों नहीं होते, इसे सिद्ध करने के लिए अनेक हेतु भी दिए, किन्तु जैन दर्शन की मौलिक समस्या सात की नहीं, दो की है। बौद्ध दर्शन और वेदान्त में जिन चार कोटियों पर भार दिया जाता है वे भी सप्तभङ्गी की तरह ही हैं। उनमें भी मूलरूप में दो ही कोटियां हैं। तीसरी और चौथी कोटि में मौलिकता नहीं है। कोई यह कह सकता है कि दो भङ्गों को भी मुख्य क्यों माना जाय, एक ही भङ्ग मुख्य है। यह ठीक नहीं। वस्तु न तो सर्वथा सत् या विध्यात्मक हो सकती है और न सर्वथा असत् या निषेधात्मक। विधि और निषेध दोनों रूपों में वस्तु की पूर्णता रही हुई है। न तो विधि निषेध से बलवान् है और न निषेध विधि से शक्तिशाली है। दोनो समानरूप से वस्तु की यथार्थता के प्रति कारण हैं। वस्तु का पूर्णरूप देखने के लिए दोनों पक्षों की सत्ता मानना आवश्यक है। इसलिए पहले के दो भङ्ग मुख्य हैं। हां, यदि कोई ऐसा कथन हो जिसमें विधि और निषेध का समानरूप से प्रतिनिधित्व हो—दोनों में से किसी का भी निषेध न हो तो उसको मुख्य मानने में जैन दर्शन को कोई एतराज नहीं। वस्तु का विश्लेषण करने पर प्रथम दो भङ्ग अवश्य स्वीकृत करने पड़ते हैं।

१०. स्याद्वाद को मानने वाले केवलज्ञान की सत्ता में विश्वास नहीं रख सकते क्योंकि केवलज्ञान एकान्तरूप से पूर्ण होता है। उसकी उत्पत्ति के लिए बाद में किसी की अपेक्षा नहीं रहती।

स्याद्वाद और केवलज्ञान में तत्त्वज्ञान की दृष्टि से कोई भेद नहीं है। केवली वस्तु को जिस रूप से जानेगा, स्याद्वादी भी उसे उसी रूप से जानेगा। अन्तर यह है कि केवली जिस तत्त्व को साक्षात् जानेगा—प्रत्यक्ष ज्ञान से जानेगा, स्याद्वादी छद्मस्थ उसे परोक्षरूप से जानेगा—श्रुतज्ञान के आधार से जानेगा। केवलज्ञान पूर्ण होता है इसका अर्थ यही है कि वह साक्षात् आत्मा से होता है और उस ज्ञान में किसी प्रकार की बाधा की सम्भावना नहीं है। पूर्णता का यह अर्थ नहीं कि वह एकान्तवादी हो गया। तत्त्व को तो वह सापेक्ष—अनेकान्तात्मक रूप में ही देखेगा। इतना ही नहीं, उसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये तीनों धर्म रहते हैं। काल जैसे किसी भी पदार्थ में परिवर्तन करता है, वैसे ही केवलज्ञान में भी परिवर्तन करता है। जैन दर्शन केवलज्ञान को कूटस्थ नित्य नहीं मानता। किसी वस्तु की भूत, वर्तमान और अनागत—ये तीन अवस्थाएँ होती हैं। जो अवस्था आज अनागत है वह कल वर्तमान होती है। जो आज वर्तमान है वह कल भूत में परिणत होती है। केवलज्ञान आज की तीन प्रकार की अवस्थाओं को आज की दृष्टि से जानता है। कल का जानना आज से भिन्न हो जाएगा क्यों कि आज जो वर्तमान है वह भूत होगा और आज जो अनागत है कल वह वर्तमान होगा। यह ठीक है कि केवली तीनों कालों को जानता है किन्तु जिस पर्याय को उसने कल भविष्यत् रूप से जाना था उसे आज वर्तमान रूप से जान सकता है। इस प्रकार काल-भेद से केवली के ज्ञान में भी भेद आता रहता है। वस्तु की अवस्था के परिवर्तन के साथ साथ ज्ञान की अवस्था भी बदलती रहती है। इसलिए केवलज्ञान भी कथञ्चित् अनित्य है और कथञ्चित् नित्य। स्याद्वाद और केवलज्ञान में विरोध की कोई सम्भावना नहीं।

भगवान् महावीर ने केवलज्ञान होने के पहले चित्रविचित्र पंख वाले एक बड़े पुंस्कोकिल को स्वप्न में देखा। इस स्वप्न का विश्लेषण करने पर स्याद्वाद फलित हुआ। पुंस्कोकिल के चित्रविचित्र पंख अनेकान्त-वाद के प्रतीक हैं। जिस प्रकार जैन दर्शन में वस्तु की अनेकरूपता की स्थापना स्याद्वाद के आधार पर की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गई उसी प्रकार बौद्ध दर्शन में विभज्यवाद के नाम पर इसी प्रकार का अंकुर प्रस्फुटित हुआ। किन्तु उचित मात्रा में पानी और हवा न मिलने के कारण वह मुरझा गया और अन्त में नष्ट हो गया। स्याद्वाद को समय समय पर उपयुक्त सामग्री मिलती रही जिस से वह आज दिन तक बराबर बढ़ता रहा। भेदाभेदवाद, सदसद्वाद, नित्यानित्यवाद, निर्वचनीयानिर्वचनीयवाद, एकानेकवाद, सदसत्कार्यवाद आदि जितने भी दार्शनिक वाद हैं, सब का आधार स्याद्वाद है। जैन दर्शन के आचार्यों ने इस सिद्धान्त की स्थापना का युक्तिसंगत प्रयत्न किया। आगमों में भी इसका काफी विकास दिखाई देता है।

जैन दर्शन में स्याद्वाद का इतना अधिक महत्त्व है कि आज स्याद्वाद जैन दर्शन का पर्याय बन गया है। जैन दर्शन का अर्थ स्याद्वाद के रूप में लिया जाता है। जहां जैन दर्शन का नाम आता है, अन्य सिद्धान्त एक ओर रह जाते हैं और स्याद्वाद या अनेकान्तवाद याद आजाता है। वास्तव में स्याद्वाद जैन दर्शन का प्राण है। जैन आचार्यों के सारे दार्शनिक चिन्तन का आधार स्याद्वाद है।

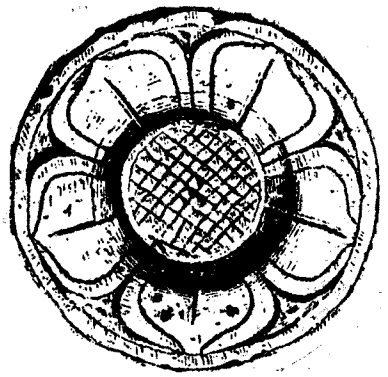

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org